

समकालीन दर्शन में ईश्वरवाद

डॉ० मनोज कुमार सिंह*

भारतीय धर्म-दर्शन में ईश्वरवाद चिन्तन का मूल केन्द्र रहा है। जितने भी उपासनामूलक धर्म हैं चाहे वे भारतीय हों या पाश्चात्य सभी किसी न किसी रूप में ईश्वर को अपना प्रमुख विषय मानते हैं। ईश्वर जो इस जगत् का कर्ता है, की अनुभूति ही सच्ची धार्मिक अनुभूति मानी जाती है। ईश्वर परम सत्य है और परम सत्य के अस्तित्व में आस्था ही ईश्वरवाद का पोषक है। परम सत्य के अन्वेषण में मन, वचन, कर्म के शुद्धि की नितान्त आवश्यकता होती है। जब हम सत्य का मन, वचन और कर्म से अनुसरण करने लगते हैं तो सत्य की महिमा हमारा मार्ग-प्रदर्शन करने लगती है। सत्य विश्वव्यापी और सर्वव्यापक शक्ति है जो मानव के अन्तःस्थल में निवास करती है, मानव के अन्तःस्थल में निवास करनेवाला सत्य ही ईश्वर है। जो अपने अन्दर निहित सत्य और ईश्वर में विश्वास करने लगता है उसे विश्वव्यापी सत्य अपनी गोद में लेने के लिए सदा तत्पर रहता है। जिस भाँति एक नदी को सागर अपने आप में विलिन कर लेता है, ठीक उसी भाँति मानव के अन्दर निहित ईश्वर तत्त्व को विश्वव्यापी परमात्म तत्त्व अपने में एकीभूत कर लेता है। और, इसी एकीभूतता से ईश्वरवाद का जन्म होता है।

ईश्वर पर विश्वास करना और ईश्वर के अस्तित्व का अहिर्निश अनुभव करना – दोनों भिन्न अवस्थाएँ हैं। मानव स्वानुभूति के पश्चात् ही विश्वास करना चाहता है। वह वृत्ति उसके अन्दर जन्म से ही विद्यमान रहती है। शैशवकाल में प्रत्येक बालक इसी जिज्ञासा से प्रेरित होकर अपने माता-पिता के समक्ष प्रत्येक वस्तु के निराकरण के लिए प्रश्न करता है। प्रश्न करने की जिज्ञासा सत्य के खोज की परिचारिका होती है। सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित विश्वास में अनेक गुण होते हैं। युक्ति और तर्क के बिना ही उसकी प्रेरणा से कर्तव्य और कर्म में सहज प्रवृत्ति हो जाती है। कर्म के द्वारा फल प्राप्त होने पर यह विश्वास और दृढ़ हो जाता है और संशयवादविहीन निश्चयात्मक ज्ञान का सूर्योदय होता है। इसी विश्वास पर व्यक्ति अथवा मानव-समाज की यथार्थ उन्नति और विकास निर्भर करता है। किन्तु विश्वास के मूल में असत्य हो तो उससे सत्य फल की प्राप्ति नहीं होती और यथार्थ

कर्मों का विकास भी नहीं हो पाता। परन्तु जिस प्रकार विश्वास हटात् उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अन्धविश्वास भी युक्ति और तर्क से दूर नहीं हो सकता। जब साधक यह अनुभव करता है कि जिसे हम संसार कहते हैं उसकी शक्ति असीम और नश्वर है, तब उसका व्याकुल चित्त इस विश्व-ब्रह्माण्ड को लांघ कर उस असीम तत्त्व की ओर दौड़ पड़ता है जो उसकी भावनाओं की पूर्ति करे। प्राकृतिक क्रम-विकास के नियमानुसार इस प्रकार की आस्था का स्वाद जब तक वह नहीं चखता तब तक बलपूर्वक ईश्वर में विश्वास करना एक निष्फल प्रयास है। यदि ईश्वर में विश्वास है, तो वह जीवन के मंगलसोपानों में धीरे-धीरे आरोहण करते हुए परम आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्म इस जगत् का परमतत्त्व है। वह अनन्त, नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञानी और परम शुद्ध चैतन्य है। वह सबकी आत्मा है, अनादि है, परम कारण है। ब्रह्म एक ऐसा तत्त्व है जो दृश्यमान जगत् का जनक, पालक, धारक व नियामक है।¹ स्वामी विवेकानन्द के अनुसार यह अद्वैत रूप ब्रह्म ही सत् है। ब्रह्म एक नित्य, असीम व अनन्त सत्ता है। वही एकमात्र सत्य है। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। ब्रह्म सर्वव्यापी, शुद्ध चैतन्य रूप व अन्तर्यामी है। ब्रह्म ही विश्व का अव्याकृत रूप है, सभी वस्तुओं का कारण और सभी शक्तियों का अधिष्ठान है। स्वामी विवेकानन्द मूलतः वेदान्ती हैं, परन्तु अद्वैतवेदान्त से प्रभावित होने के कारण आचार्य शंकर की भाँति निर्गुण ब्रह्म की सत्ता को प्रतिष्ठित करते हुए कहते हैं कि सगुण ब्रह्म के सभी विशेषण निर्गुण ब्रह्म के पक्ष में अनावश्यक और अयौक्तिक हैं। इसलिए वे त्याज्य हैं। निर्गुण और सर्वव्यापी पुरुष ज्ञानवान नहीं कहला सकता, क्योंकि ज्ञान मन का धर्म है। वह विचारपरायण भी नहीं कहला सकता, क्योंकि विचार ससीम का धर्म है। वह सृष्टिकर्ता भी नहीं कहला सकता, क्योंकि वह बन्धनहीन है, अतः उसमें सृष्टि करने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। हम एक समय में एक से अधिक वस्तुओं के अस्तित्व को नहीं स्वीकार सकते। आचार्य शंकर की भाँति विवेकानन्द ब्रह्म की अज्ञेयता को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि वह अज्ञेय, अनिर्वचनीय व अवर्णनीय है। उसके विषय में किसी भी प्रकार के विशेषणों का प्रयोग नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जब हम किसी वस्तु का कथन करेंगे तो देश और काल की सीमा से आबद्ध होगा, जबकि ब्रह्म देश और काल की सीमा से परे है।² विवेकानन्द के अनुसार ब्रह्म ही सत् है और सत् वही है जो देश और काल की सीमा से परे है।³ देश और काल सत् नहीं है,⁴ क्योंकि काल मन के अधीन है, अतः वह सापेक्ष है। इसी प्रकार देश की भी निरपेक्ष सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। देश से वही वस्तु सम्बद्ध हो सकती है जो साकार हो जबकि ब्रह्म निराकार है, अतः वह देश से भी सम्बन्धित नहीं हो सकता। यदि

*सहायक आचार्य सत्येन्द्र नारायण सिंह महिला महाविद्यालय, सुपौल

वह देश और काल युक्त होगा तो उसकी असीमता और अनन्तता बाधित होगी, फलतः वह असीम और अनन्त न होकर सापेक्ष और ससीम होगा। सगुण ब्रह्म जिसे परम पिता, परमात्मा, भगवान आदि विशेषणों से विभूषित करते हैं, के दो लक्षण हैं—स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण। अपने स्वरूप लक्षण में वह सत्-चित्-आनन्द है और तटस्थ लक्षण में वह जगत का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता है। सृष्टिकर्ता ब्रह्म को ही स्रष्टा, ईश्वर और भगवान कहते हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि जब तक हमारा शरीर है, जब तक हम इस शरीर को आत्मा समझते हैं और जब तक हम इस जगत की ओर दृष्टि किए हुए हैं, तब तक हमें सगुण ईश्वर को स्वीकार करना होगा। ऐसी अवस्था में ईश्वर को न स्वीकार करना निरा पागलपन ही है।⁹ यदि हम इस संसार को सत्य मानते हैं तो इसका सृष्टि करने वाला भी सत्य होगा, नहीं तो कार्य-कारण नियम का उल्लंघन होगा। कार्य-कारण नियम कहता है कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है। यदि संसार है तो इसका भी कोई कारण होगा, अन्यथा यह अकारण हो जायेगा। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार वह कारण ईश्वर है। एक पत्थर गिरता है और हम पूछ बैठते हैं — क्यों? इस क्यों के पीछे मान्यता यह है कि कोई घटना बिना कारण के नहीं घटती। संसार की सभी घटनाएँ कार्य-कारण नियम में आबद्ध हैं। प्रत्येक घटना अपनी पूर्ववर्ती घटना का कार्य है तथा अपने उत्तरवर्ती घटना का कारण है। संसार शृंखला में प्रत्येक कड़ी अपने पूर्ववर्ती कड़ी से जन्य है तथा उत्तरवर्ती कड़ी का जनक है। यह कार्य-कारण नियम हमारे चिन्तन का अनिवार्य उपकरण है। ईश्वर ही जगत का उपादान एवं निमित्त कारण है। वह एक कुशल शिल्पकार एवं व्यवस्थापक है। वह विश्व का शासक कहलाता है जो कर्मफल की छड़ी से विश्व पर शासन करता है।

अरविन्द ने परमतत्त्व या परम सत् को इन्द्रियातीत माना है। वह अनिर्वचनीय, अव्यक्त, अपरिभाष्य और जो कुछ कल्पनागम्य है उससे परे है, किन्तु युगपत् रूप में वह व्यक्तियुक्त अथवा व्यक्तित्व रहित सत्ता है। ब्रह्म का वह रूप जिसमें कोई गुण नहीं होता, जो सभी प्रकार के सम्बन्धों से रहित होता है, वह ब्रह्म की व्यक्तित्व रहित सत्ता है और जो गुणों से युक्त होता है वह ब्रह्म की व्यक्तित्वयुक्त सत्ता है। ब्रह्म की व्यक्तित्वयुक्त सत्ता ही विश्व का कर्ता-धर्ता होता है।

ब्रह्म को यद्यपि अनिर्वचनीय माना गया है, फिर भी मानवीय चेतना उसके त्रिमुखी स्वरूप सत्-चित्-आनन्द की विवेचना करती है।¹⁰ यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मानवीय चेतना परमतत्त्व को सत्-चित्-आनन्द के रूप में विभाजित कर उसकी विवेचना करती है, किन्तु स्वरूपतः तीनों एक-दूसरे से अपृथक हैं। इनकी जब भी प्रगति होती है एक साथ ही होती है, पृथक-पृथक

नहीं। सत् चैतन्य है और चैतन्य आनन्द है। जो सत्य है वही शिव है और जो शिव है वही सुन्दर है। सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म के धर्म या गुण नहीं हैं बल्कि ये ब्रह्म के स्वरूप हैं। ये तीनों अलग-अलग नहीं बल्कि एक ही हैं। बुद्धि इन्हें तीन मानती है, परन्तु तात्विक दृष्टि से इनके कोई भेद नहीं है।

गाँधी कहते हैं कि ईश्वर सच्चिदानन्द है, 'सत्' सत्ता का बोधक है, इसके अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं है। यह विशुद्ध चैतन्य एवं शाश्वत है। यह विद्युत शक्ति की भाँति कोई भौतिक शक्ति नहीं है बल्कि एक चेतन शक्ति है।¹¹ ईश्वर ने मानव की रचना की है, मानव ने ईश्वर की नहीं। ईश्वर मानव की भाँति व्यक्तित्ववान नहीं है। वह विश्व का सार्वभौम नियम और नियामक दोनों है।¹² 'हरिजन' में गाँधी ने लिखा है—मेरे राम ऐतिहासिक राम नहीं हैं, वे नित्य, अनादि एवं अद्वितीय हैं।¹³ जगत की सारी वस्तुएँ ईश्वर की अभिव्यक्ति हैं। ईश्वर देश काल से परे तथा पारमार्थिक तत्त्व है। जगत में व्याप्त भी है और इससे बाहर भी है।¹⁴ लेकिन जब गाँधी ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, जगत का सृष्टिकर्ता एवं न्यायपालक मानते हैं तो उनका ईश्वर व्यक्तित्ववान हो जाता है। इस सम्बन्ध में प्रो० डी०एम० दत्त का कहना है कि यदि व्यक्तित्व में आत्मचेतना एवं संकल्प दोनों का बोध होता है तो इस अर्थ में गाँधी ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते हैं, क्योंकि ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान जगतस्रष्टा और न्यायपालक मानते हैं। इसलिए सब मिला-जुला कर गाँधी को शंकर के अनुयायी की तरह अद्वैतवादी होने के बजाए एक ईश्वरवादी वैष्णव कहना अधिक युक्तिसंगत होगा।¹⁵

ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वान्तमयी, सर्वज्ञाता, सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान है। वह सभी के हृदय में वास करता है। अतः मैं मानव जाति की सेवा के द्वारा ईश्वर दर्शन का प्रयत्न कर रहा हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि ईश्वर न तो ऊपर स्वर्ग में है, न नीचे किसी पाताल में, वह तो हर एक के हृदय में विराजमान है। वह हमारे अंदर और बाहर प्रत्येक अंग में व्याप्त है। कोई किसी जगह या वस्तु से ईश्वर शब्द को मिटा सकता है, किन्तु स्वयं ईश्वर को निकाल देने की शक्ति उसमें नहीं है। ईश्वर हमारे साथ वैसा ही व्यवहार करता है जैसा हम अपने पड़ोसियों के साथ, मनुष्य और पशुओं के साथ करते हैं।

ईश्वर दयालु व कृपालु है। जो ईश्वर को जिस रूप में पाना चाहता है उसे ईश्वर उसी रूप में मिल जाता है। 'हरिजन' में लिखा है कि परमेश्वर पूर्ण है और सर्वशक्तिमान है, फिर भी वह लोकतंत्र का कितना बड़ा हिमायती है। हमारा कितना छल-कपट और कितना अन्याय वह सहता है। हमारे अन्दर और बाहर प्रत्येक अंग में वह व्याप्त है फिर भी उसके द्वारा ही रचे हम तुच्छ प्राणी उसके अस्तित्व में शंका उठाते हैं और वह हमें ऐसा करने देता है—इतनी उसकी सहन

शक्ति है। लेकिन जिसे वह देना चाहे उसे अपना दर्शन देने का अधिकार वह अपने पास सुरक्षित रखता है। उसके हाथ-पांव या दूसरी इन्द्रियाँ नहीं हैं, किन्तु जिसे वह अपना दर्शन देना चाहे वह मनुष्य उसे देख सकता है।¹²

राधाकृष्णन् यह मानते हैं कि जगत् में प्रयोजन है, व्यवस्था है और इसकी व्याख्या के लिए, इसकी सार्थकता के लिए एक व्यवस्थापक की आवश्यकता है, वह जगत की व्यवस्था का आधार होता है। वही ईश्वर है। एक समस्या उत्पन्न होती है कि निरपेक्ष सत् किस प्रकार अपने को एक निश्चित जगत् के रूप में व्यक्त करता है? इसका समाधान ईश्वर की अवधारणा में होता है। जगत में एक सर्जनात्मक शक्ति है और उसका मानना आवश्यक है। ईश्वर निरपेक्ष सत् और जगत् के बीच की एक कड़ी है।

शंकराचार्य ने भी निरपेक्ष बुद्ध और ईश्वर की बात कही है। ईश्वर व्यावहारिक दृष्टि से है। पारमार्थिक दृष्टि से निरपेक्ष बुद्ध है। परमार्थ और व्यवहार के कारण दोनों में अन्तर होता है। शंकराचार्य के दर्शन में ईश्वर भी व्यावहारिक सीमित है, जैसे—माया। किन्तु राधाकृष्णन् का ईश्वर सत् का रूप, साथ ही जगत् भी भ्रमस्वरूप नहीं है। राधाकृष्णन् ईश्वर को एक सर्जनात्मक शक्ति मानते हैं। वे निरपेक्ष सत् तथा ईश्वर के बीच के अन्तर को बताते हुए कहते हैं —

‘कार्यरत निरपेक्ष ईश्वर है, वह सृष्टिकर्ता है। अपने परमसत् सृष्टि क्रिया से परे सत् रूप ही निरपेक्ष है।’¹³

जब परमसत् को सृष्टि से अलग करके देखते हैं तो उसे निरपेक्ष कहते हैं और सृष्टि से सम्बद्ध करके देखते हैं तो ईश्वर कहते हैं। ईश्वर सृष्टिपूर्व निरपेक्ष है और निरपेक्ष ही सृष्टि की दृष्टि से ईश्वर है।¹⁴

सन्दर्भ :

1. ऋ०सं०-10 / 82 / 3
2. The idea of time cannot be there the idea of space cannot be there, seeing that there is no external change. What you call motion and causation cannot exist where there is only one. Ibid, Vol.III, P.130.
3. That which is beyond time, space and causation that is perfect. Ibid, Vol. III, P.13.
4. Ibid, Vol. II, pp.135-136.
5. Complete works of Swami Vivekanand, Vol. III, P-281.

6. The highest and best positive affirmation that the human consciousness can make of the absolute is that it is Sachchidannada. R.S. Mishra. The Itegral Advaitism of Sri Aurobindo, P.27.
7. गाँधी, हरिजन, 22.6.1947
8. Hingorani, Anand T., P.80
9. गाँधी, हरिजन, 8.4.1946
10. Hingorani, Anand T., P.80
11. Gandhi, M.K., Ashram Observance in Action, P.36
12. हरिजन, 14.11.1936, पृ०-314
13. समकालीन दर्शन, बसन्त कुमार लाल, पृ०-332.
14. We call the Supreme the Absolute when we view it apart from the Cosmas, God is relation to the Cosmo. The absolute is the pre-cosmic nature of God and God the Absolute from cosmic point of view. An Idealistic View of Life, Radhakrishnan, P.245.
